

मोक्षमार्ग रहस्य प्रकाशक निष्कारण करुणामूर्ति  
मुमुक्षुजीवों के परम हितरवी जिनवाणी मर्मज्ञ  
पूज्य भाईश्री शशीभाई के ८८ वीं जन्मजयंती महोत्सव  
प्रसंग पर कोटी कोटी वंदन!!



निश्चय रत्नत्रय प्राप्त, परमागम-सुधाना रहस्यज्ञ, जिनमार्ग प्रति अखंड निष्ठावान,  
जिनकी निष्कारण करुणा की नित्य सत्वना में भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है,  
मोहस्वयंभूरमण समुद्र को भूजा से तिर गये, ऐसे हे प्रखर पुरुषार्थ के स्वामी! भाव  
अप्रतिबद्धरूप से विचरनेवाले, आप के प्रति अचल प्रेम एवं सम्यक् प्रतीति हो, ऐसी  
भावनासहित आपके चरणों में भक्ति-पुष्प अर्पण करते हैं।

‘स्वानुभूतिप्रकाश’ परिवार

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२७६, वर्ष-२४, दिसम्बर-२०२०

आषाढ कृष्ण ६, शनिवार, दि. ९-७-१९६६, योगसार पर  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८० प्रवचन-३०

‘आत्मरमण में तप-त्यागादि सब कुछ हैं।’  
अप्पा दंसणु णाणु मुणि, अप्पा चरणु बियाणि।  
अप्पा संजमु सील तउ, अप्पा पच्चक्खाणि।।८१।।  
यह श्लोक तो अपने समयसार में, नियमसार में आता है। ‘आत्मा को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानो...’ सम्यग्दर्शन कोई देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि विकल्प, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। आहाहा! आत्मा को सम्यग्दर्शन (जानो)। भगवान आत्मा पूर्ण अनन्त शुद्धभाव से भरा हुआ आत्मा, उसमें अन्तर्मुख होकर दृष्टि - निर्विकल्प प्रतीति करना वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है। शास्त्र का ज्ञानादि व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय (सम्यग्ज्ञान), आत्मा का ज्ञान। आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्दस्वरूप है, उसका अन्तर में ज्ञान करना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान आत्मा है।

‘आत्मा को सम्यक्चारित्र समझो...’ आत्मा में निर्विकल्प चारा चरना, ‘निर्विकल्प उपयोग में नहीं कर्म का चारा’ - ऐसा आता है। ‘यशोविजय’। समझो? भगवान आत्मा पुण्य-पाप के राग से हटकर अपने पूर्ण शुद्धस्वरूप में एकाकार होकर निर्मलता, वीतरागता की पर्याय प्रगट करना, वह चारित्र (और) वह आत्मा है। कहो, समझ में आया?

मुम्बई में से निकलना हलाहल होता होगा न? परन्तु उस नगरी में से निकलकर जाना है कहाँ? उसकी इसे खबर है? आत्मस्थिति देह की यहाँ पूरी हो जाये, कब होगी इसकी उसे खबर है? स्थिति तो पूरी हो जानेवाली है। एकदम अन्दर से निकलेगा, उसकी चिन्ता कर न! नगरी में वहाँ कहाँ पड़ा है? भगवान आत्मा देह छोड़कर चला जायेगा। कहाँ जायेगा?

भगवान आत्मा - मैं शुद्धस्वरूप परमानन्द हूँ - ऐसी प्रतीति करके स्वरूप में लीन होना, उसका नाम सच्चा चारित्र है, वह आत्मा है। वह चारित्र है, नग्नपना चारित्र नहीं है; अट्टाईस मूलगुण का विकल्प है, वह चारित्र नहीं है। अट्टाईस मूलगुण पालना, वह चारित्र नहीं है, वह तो राग है। व्यवहारचारित्र कहते हैं, कब? यदि निश्चयचारित्र होवे तो; अपना शुद्ध स्वरूप चारित्रमय है, शान्त वीतरागस्वरूप है, उसमें दृष्टि लगाकर स्थिर होना, वह चारित्र आत्मा ही है क्योंकि आत्मा के साथ वह निर्मल पर्याय अभेद हुई, महाव्रत का रागादि उत्पन्न होता है, वह तो भेद हुआ। राग भेद पड़ता है, वह सच्चा चारित्र नहीं है।

‘आत्मा ही संयम है...’ लो, समझ में आया कुछ? इसकी व्याख्या बाद में करेंगे, हाँ! ‘आत्मा शील है...’ और आत्मा ‘तप है...’ आत्मा तप है

और 'आत्मा ही प्रत्याख्यान अथवा त्याग है।' लो! आत्मा ही प्रत्याख्यान, त्याग है। यह अपने यहाँ विस्तार से आ गया है।

'आत्मा के स्वभाव में रमणता होने पर सभी मोक्ष के साधन निश्चयनय से प्राप्त हो जाते हैं।' (भावार्थ की) पहली लाइन। भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध ध्रुव शाश्वत् वस्तु में रमणता होने पर अपने शुद्ध स्वभाव में लीनता, रमणता होते ही 'सभी मोक्ष के साधन निश्चयनय से...' यथार्थरूप से 'प्राप्त हो जाते हैं।' इसके सिवाय मोक्ष का साधन अन्य किसी से नहीं होता।

'व्यवहारनय से देव-शास्त्र-गुरु और जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।' विकल्प, शुभराग। व्यवहारनय से, हाँ! देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान, सात तत्त्वों का (श्रद्धान)। 'निश्चय से उस आत्मा का ही निज गुण है। जहाँ श्रद्धा और रुचि सहित आत्मा में स्थिरता की जाती है...' देखा? स्थिरता की जाती है- ऐसा लिया है, 'वहाँ ही भाव निक्षेपरूप यथार्थ परिणमनशील सम्यग्दर्शन है।' है न, इतनी स्थिरता नहीं? समझ में आया? ठीक लिखा है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, सात तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा तो शुभरागरूप है। आत्मा अपना निर्मलानन्द प्रभु शुद्ध स्वभाव से है। उसकी श्रद्धा, रुचि का होना और उसमें परिणमन निश्चय भावनिक्षेप से निर्मलानन्द का परिणमन होना, उसका नाम भगवान सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन ही

आत्मा है। आत्मा से वह निर्मलपर्याय भिन्न नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, वह तो निर्मलपर्याय से भिन्न विकल्प है, राग है।

'व्यवहार में आगमज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है।...' व्यवहार से शास्त्र का ज्ञान। 'निश्चय से ज्ञान में अपनी आत्मा का शुद्ध स्वभाव का झलकना, वही सम्यग्ज्ञान है।' निश्चय - यथार्थ में अपने ज्ञान में अपने आत्मा का शुद्धस्वभाव झलकना, (वह सम्यग्ज्ञान है)। शुद्धस्वभाव का भान अन्दर ज्ञान में होना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। 'व्यवहार में साधु या श्रावक के महाव्रत अथवा अणुव्रतरूप आचरण, वह व्यवहारचारित्र



है।' व्यवहारचारित्र, हाँ! 'निश्चय से वीतराग भाव ही सम्यक्चारित्र है।' निश्चय अपने शुद्धस्वरूप में रमणता करना - ऐसे निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होना, वह चारित्र सच्चा है। साथ में पंच महाव्रत के विकल्पादि हों, वह व्यवहारचारित्र, उपचारचारित्र है। 'व्यवहार में पाँच इन्द्रिय और मन का निरोध, वह इन्द्रिय संयम और पृथ्वीकायादि छह प्रकार से प्राणियों की रक्षा वह प्राणी संयम है।' वह व्यवहार है, विकल्प है। 'निश्चय से अपने ही शुद्धस्वभाव में अपने को संयमरूप रखना, बाहर कहीं भी राग-द्वेष न करना, वह आत्मा का धर्म, संयम है।' यहाँ तो आत्मा, आत्मा बात की है न!

'व्यवहार से मन-वचन-काय, कृत-कारित-

अनुमोदित इन नौ प्रकार से काम विकार को मिटाकर शील पालना, वह ब्रह्मचर्य है।' वह भी व्यवहार ब्रह्मचर्य, विकल्प है न! मन से, वाणी से, काया से ब्रह्मचर्य पाले, वह विकल्प, शुभराग है। 'निश्चय से ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही चलना वह निश्चय ब्रह्मचर्य है।' निश्चय ब्रह्मचर्य तो अपना ब्रह्मानन्द भगवान... ब्रह्म अर्थात् आनन्द, उसमें चरना, लीन होना, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में लीन होना, वह ब्रह्मचर्य है। सभी अर्थों में अन्तर... व्यवहार और निश्चय के सभी अर्थों में बहुत अन्तर पड़ गया है। लोग तो (ऐसा कहते हैं) व्यवहार वही साधन है, वही साधन है। मक्खनलालजी! वह साधन - श्रावक, मुनि के व्रतादिक साधन हैं, उनसे मुक्ति का मार्ग है, उसे तो सोनगढ कहता है कि पुण्यबन्ध का कारण है। सोनगढ कहता है या भगवान कहते हैं। भगवान कहते हैं, परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव। वे क्या कहते हैं? देखो न यह! योगीन्द्रदेव मुनि (कहते हैं) कितने वर्ष हुए? हजार-बारह सौ वर्ष पहले (हुए हैं) समझ में आया?

योगीन्दुदेव महान नमन-दिगम्बर मुनि वनवासी साधु कहते हैं कि पञ्चम काल में भी चारित्र तो दर्शन-ज्ञान उसे कहते हैं, अपने शुद्ध भगवान आत्मा की प्रतीति अनुभव और स्थिरता होवे, उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। व्यवहार तो जाननेयोग्य है, वस्तु नहीं। यहाँ क्या कहते हैं? 'अप्पा दंसणु णाणु मुणि, अप्पा चरणु बियाणि।' आत्मा, आत्मा और आत्मा पुकार करते हैं। पता नहीं है उन्हें कि पञ्चम काल में ऐसे जीव पकेंगे? मार्ग तो यह है। समझ में आया? परमात्मप्रकाश में कैसा लिखा है! आगे कहेंगे! मैं अपने... पहले कहा है कि भव्यजीवों को सम्बोधन के लिये कहता हूँ, फिर (कहेंगे) मेरी भावना के लिये मैंने बनाया है। मैंने अपनी भावना के लिये बनाया है, अन्त में कहेंगे। ठीक! स्वयं कहते हैं मुझे तो यह घोलन चलता है, वह मैंने बनाया है। समझ

में आया?

'व्यवहार से बारह प्रकार का तप...' पालन करना। वह शुभविकल्प है, बाह्य व्यवहारतप। 'निश्चय से आत्मा के शुद्धस्वरूप में तपना...' कहो, कुछ समझ में आया? एक आत्मा... आत्मा... परन्तु आत्मा के अतिरिक्त दूसरा क्या होगा? अनात्मा में धर्म होता है? पुण्य-पाप के परिणाम तो अनात्मा हैं; देह की क्रिया, वाणी की क्रिया तो जड़ है, अजीव है, क्या उसमें धर्म होता है? भगवान आत्मा... समझ में आया? ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... 'निरखे ध्रुव का तारा।' भगवान शाश्वत् शुद्ध चैतन्य ध्रुव में लीन होना, वही आत्मा का तप कहलाता है। वह तप है, बाकी सब व्यवहार तप कहलाता है अथवा लंघन कहलाता है।

'आत्मिकभाव में प्रकाश पाने के लिये यह तप सहायक है।' यह इच्छा, शुद्धस्वरूप में रमना, हाँ! 'तपस्वी को योगी को उचित है कि इन्द्रिय दमन व मन-वचन-काय की शुद्धि के लिये उपवास करता रहे।' यह तो व्यवहार की बात है। 'मात्रा से कम भोजन लेना, जिससे ध्यान स्वाध्याय में प्रमाद न हो।' (फिर) बारह प्रकार के तप की व्याख्या की है। समझ में आया? व्यवहार की (बात की है)। यह भी अर्थ किया है। बारह प्रकार के तप की व्याख्या की है।

'अन्तरङ्ग में विभावों से, बाहर में शरीरादि परवस्तुओं से विशेष ममता का त्याग, वह ब्रह्मचर्य तप है।' अन्तरङ्ग विकार, विभाव के विकल्प से, बाहर में शरीरादि परवस्तुओं से विशेष ममता का त्याग करना, वह ब्रह्मचर्य तप है। तप के भेद हैं न, तप के? 'धर्मध्यान का एकान्त में अभ्यास करना, वह ध्यान तप है। इन बारह प्रकार के तपों में वर्तते हुए अपने आत्मा को तपना सो ही निश्चय तप है।' लो, यह अनशनादि सब इसमें थोड़ा-थोड़ा ले लिया है। समझ में

आया?

‘अपने आत्मा को सर्व परद्रव्यों से व परभावों से भिन्न अनुभव करना सो निश्चय प्रत्याख्यान है। अभिप्राय यह है कि जब यह उपयोग अपने ही आत्मा के शुद्धस्वरूप में रमण करके स्वानुभव में रहता है, तब ही वास्तव में रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग है। तप ही यद्यपि संयम है, शील है, तप है, प्रत्याख्यान है, अतएव आत्मस्थ रहना योग्य है।’ यह प्रत्येक का व्यवहार, निश्चय उतारा है। दृष्टान्त दिया है, देखो, समयसार का आधार (दिया है)। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी ऐसा कहते हैं -

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।  
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।१८।।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं ‘निश्चय से मेरे ज्ञान में...’ आत्मा है। विकल्प में आत्मा है - ऐसा नहीं। ज्ञान, ज्ञान - सम्यग्ज्ञान में मेरा आत्मा ही समीप है। मेरे सम्यग्ज्ञान में आत्मा ही समीप है। मेरे दर्शन में आत्मा ही समीप है। चारित्र में आत्मा ही समीप है और ‘जब मैं रत्नत्रय में रमण करता हूँ, तब आत्मा ही के पास पहुँचता हूँ।’ समझ में आया? ‘त्यागभाव में रहना भी आत्मा में तिष्ठना है।’ प्रत्याख्यान किया न, प्रत्याख्यान? ‘आस्रवभाव के निरोधरूप संवरभाव में अथवा एकाग्र योगाभ्यास में भी आत्मा ही सन्मुख रहता है।’ लो, यह ‘आदा मे संवरे जोगे’ अपने व्याख्या आ गयी है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार  
ग्रंथके वचनामृत-१९१ पर भाववाही  
प्रवचन, दि. १७-३-१९८३, प्रवचन  
क्रमांक-७३ (विषय : मार्गदर्शन)

बाहरकी विपदा—यह वास्तविक विपदा  
नहीं। बाहरकी संपदा—यह संपदा नहीं है।  
चैतन्यका विस्मरण ही घोर विपदा है, चैतन्यका  
स्मरण (संवेदन) ही वास्तवमें सच्ची संपदा है।  
१९१.

यहाँ गुरुदेवश्री कहते हैं कि भाई! वह (बाहरी) विपदा हकीकत में विपदा नहीं है और (बाहरी) संपदा भी हकीकत में संपदा नहीं है। फिर ये (संपदा और विपदा) क्या चीज है? यह एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। यह तो 'नहीं है' ऐसा कहा। नास्ति अर्पित की है इसमें से अनर्पितरूप से क्या निकलता है? यह भी तो सोचना होगा कि नहीं? अर्पितरूप से तो नास्ति कह दी कि ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन ऐसा नहीं है तो क्या है? (तो कहते हैं) कि अनुकूलता के जितने भी प्रकार हैं और प्रतिकूलताओं के जितने भी प्रकार हैं, सब ज्ञान का ज्ञेय है। वीतरागभाव में यानि कि साम्यभाव में दोनों एक-से मालूम होते हैं। एक-से लगे उसे साम्य कहते हैं न? अभी तो दुनिया में पूरा एक साम्यवाद प्रसिद्धरूप से चलता है। साम्यवाद का ही तो झगड़ा है।

साम्यवादी लोगों का कहना है कि यह धर्म की अंधश्रद्धा ने - यानि जिसे हम धर्म - रिलीजियन कहते हैं, उसने ही दुनिया का सर्वनाश किया है! धार्मिक लोगों ने दुनिया के सर्वनाश को न्यौता दे रखा है! माँस्को की दीवार पर बहुत बड़े अक्षरों में यह बात लिखी हुई है।

माँस्को से यह बात चली है न? क्योंकि उन लोगों का इसमें ऐसा विचार है कि देखो भाई ! कोई ऊँचा-नीचा नहीं होना चाहिए। (जब कि) वह सब तो पूर्व पुण्य के कारण है। पैसेवाले पूर्व पुण्य के कारण पैसेवाले हैं। तो उन लोगों का कहना है ऐसा बिल्कुल नहीं चलेगा, सब समान होने चाहिए। सबकी संपत्ति एक-सी होनी चाहिए। सबके संयोग समान होने चाहिए। फिर तो सबके चेहरे भी एक-से होने चाहिए क्यों? सबके बेटे-बेटी, कुटुंब-परिवार एक-से होने चाहिए, ऐसा कुछ नहीं और सिर्फ संपत्ति एक-सी होनी चाहिए वही साम्यपना? लेकिन ऐसी भी एक कल्पना उन लोगों ने की है।

इसके (साम्यवाद के) एक नेता-बड़ा आदमी मिल गया था। मैंने कहा, आप लोग धर्म के बारे में ऐसा जो विचार रखते हैं, तो एक प्रश्न पूछना चाहूँगा कि ऐसी (धर्म की) मान्यतावाले को आप अंधश्रद्धावान कहते हो लेकिन हम तो कहते हैं, धर्म के क्षेत्र में रहनेवाले ऐसे हम तो ऐसा कहते हैं कि, अभी सारे जगत की दौड़ जड़ रजकण की मानी गई अनुकूल पर्याय के पीछे, उसकी प्राप्ति के पीछे - उसके एचिवमेन्ट के पीछे, इसमें सुख है ऐसी श्रद्धा चल रही है वे लोग पंद्रहसौ साल पहले यज्ञ

करके, प्राणियों का वध करके हवन करते थे उन अंधश्रद्धावान जितने ही अंधश्रद्धावान हैं! ठीक! पहले तो उन्हें पंद्रहसौ साल पीछे रख दिया! बुद्धिशाली आदमी था। बुद्धि में तेज आदमी था इसलिए लगा कि इसे थोड़ा सबक सिखाया जाये! सर पर जैसे कोई हथौड़ा पटक दे, वैसी बात कह दी! कि आप लोग, १५०० साल पहले अंधश्रद्धा में एक प्रक्रिया चलती थी कि बारिश लानी हो तो करो यज्ञ और इसमें बकरा, भैंसा या अन्य पशुओं की बलि चढ़ाओ तो ऊपर जो वरुणइन्द्र हैं वे प्रसन्न होंगे और बारिश करेंगे! वह बात जितनी बालिश व मूर्खताभरी थी, इतनी ही यह बात भी बालिश है! (उसने कहा) यह बात आपने कोई गजब की कर दी! (हम अंधश्रद्धावान) कैसे? मैंने कहा, आप इसमें सुख है (ऐसा मानते हो) जब कि आप लोग तो मटिरीयालिस्टिक लोग (कहलाते हो)! क्योंकि वे लोग अपनेआप को मटिरीयालिस्टिक मानते हैं!! मटिरीयालिझम में मानते हैं, ऐसा कहेंगे। (हमने पूछा) इसमें आपने कैसे मटिरीयलाईझ किया? आप जड़ रजकण में सुख को कैसे मटिरीयलाईझ करते हो? (प्रश्न सुनते ही) वह सोच में पड़ गया! बुद्धिशाली आदमी था। (मुझे कहा) 'आप लगते तो हैं व्यापारी लेकिन बात विज्ञान की करते हो!' (मैंने कहा) इसमें क्या हो गया? व्यापारी को विज्ञान की समझ नहीं हो, ऐसा तो नहीं है। (फिर उसने कहा) 'बात तो आपकी ठीक है, मैंने यह कभी सोचा ही नहीं है।' (मैंने कहा) 'मैंने तो ऐसा सुना है कि आप बहुत बुद्धिशाली हैं और दुनिया के सभी धर्मों का साहित्य आपने पढ़ा है। तो यह बात कहाँ तक सही है?' तो उसने कहा 'बात तो सही है कि मैंने बहुत से वर्तमान संप्रदायों का व धर्ममतों का साहित्य पढ़ा है, लेकिन मेरी कमनसीबी से मैंने जैनदर्शन का साहित्य ही नहीं पढ़ा है।' फिर तो बात ही पूरी हो गई। यह विषय तो जैनदर्शन में है, जो दुनिया के अन्य धार्मिक साहित्य में यह विषय प्रतिपादित नहीं हुआ है।

यहाँ क्या कहते हैं? कि वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञानी के ज्ञान में बाहर में कहलानेवाले अनिष्ट संयोग और वियोग या इष्ट संयोग और वियोग, सब ज्ञान का ज्ञेय है, ऐसा साम्यभावरूप ज्ञानसहित अनंतगुण का वीतरागी परिणमन साधक को वर्तता है, उन्होंने इस सिद्धांत को अपनाया है और ग्रहण किया है। अब जिसके लिए वह सुख का भी कारण नहीं है और दुःख का भी कारण नहीं है, उसे इसके ग्रहण-त्याग की पकड़ कितनी रहेगी? (कहते हैं) कि उसके ग्रहण-त्याग की कोई पकड़ उन्हें नहीं रहती। वे जगत में, जगत से निराले होकर रहते हैं और अपने में मस्त रहते हैं। वीतरागभावरूप मोक्ष की मस्ती में वे निमग्न हैं। जिन्हें जगत के ग्रहण-त्याग से कोई लेना देना नहीं है। इस तरह बाहर की संपदा और विपदा को ज्ञानियों ने 'मात्र ज्ञेय' के खाते में निश्चित किया है।

फिर इनके लिए विपदा और संपदा जैसा कुछ है क्या? (कहते हैं) कि है, वे भी मानते हैं। (बोल में) दो बात ली हैं। 'नहीं है' और 'है'। यह नास्ति और अस्ति दोनों स्थापित की है। वह ऐसे कि 'चैतन्य का विस्मरण ही घोर विपदा है, चैतन्य का स्मरण (संवेदन) ही वास्तव में सच्ची संपदा है।' जिसमें चैतन्य के सुख की हानि हो, वही विपदा है। जब चैतन्य के सुख का अभाव होता है तब चैतन्य को दुःख होता है। इसे विपदा क्यों कहते हैं? कि आत्मा में सुख नाम की एक शक्ति है, ४७ शक्तियों में ५ वीं शक्ति का वर्णन है - 'अनाकूल उपयोगमयी सुखशक्ति' समयसारजी के परिशिष्ट में प्रतिपादित ४७ शक्तियों के विवरण में एक 'सुखशक्ति' का वर्णन है। तो कहते हैं कि (आत्मा में) एक सुखगुण है। सुखशक्ति है, यानि कि वह त्रिकाल गुण है, त्रिकाली शक्ति है। आत्मा में अनादि-अनंत तीनों काल जिसका अस्तित्व है, ऐसी वह शक्ति है कि जिसका सामर्थ्य अनंत है। जिसका सुख देने का सामर्थ्य अनंत है, अपरिमित है, अमर्यादित है, जिसे कहीं भी कोई सीमा लागू नहीं

होती। ऐसी जो सुख शक्ति है इसका परिणमन भी तीनों काल होता है। किसी भी काल में किसी भी पदार्थ का कोई भी गुण परिणमन बिना रह नहीं सकता - रहता ही नहीं। सर्व गुणों की यह स्थिति है।

वस्तुविज्ञान का विचार किया जाये तो कोई भी पदार्थ का - कोई भी वस्तु का एक भी गुण किसी एक समय के लिए भी परिणमन बिना का नहीं हो सकता। अतः आत्मा की सुखशक्ति, सुख-गुण भी सदा ही परिणमन कर रहा है। परंतु जब वह विकृतरूप से, विकारिरूप से, विभावरूप से परिणमन करता है तब वह दुःखरूप परिणमन करता है। उसका अनुभव सुखरूप नहीं अपितु दुःखरूप (होता है) - उल्टा अनुभव होता है। संक्षेप में, दुःख है वह सुखगुण की उल्टी पर्याय है। दुःख है सो सुखगुण की उल्टी पर्याय है। वह विपदा कौन-सी है? कि चैतन्य का विस्मरण है वह।

जब यह आत्मा अपने ही मूलस्वरूप को-निजस्वरूप को भूला हुआ है, इसकी असावधानी में-इसके स्मरण बिना, सावधानी रहित परिणमन करता है तब उसका सुखगुण दुःखरूप परिणमन करता है। यह दुःख का अनुभव ही उसकी विपदा है। फिर चाहे लखपति हो चाहे अरबपति हो चाहे जगत का राजा हो या कोई भी लॉर्ड, किंग, एम्पर हो, शहंशाह हो! फिर भी ये सारे चैतन्य के विस्मरणवाले दुःखी हैं!!

गुरुदेवश्री तो यहाँ तक कहते थे कि 'वे सब दुःख के पहाड़ के नीचे दबे हुए हैं!' प्रवचन सुनने के लिए सामने कोई करोड़पति बैठा हो तब क्या कहते थे? कि 'आप सेठलोग सब दुःख के पहाड़ नीचे दबे हुए हो!' (मतलब) आप लोग कम दुःखी नहीं हो, परंतु बहुत दुःखी हो! फिर कभी मुस्कराते हुए ऐसा भी कह देते थे कि, बड़ी लंबी-लंबी गाड़ी में बैठते हैं,- एयर कन्डिशनड गाड़ियाँ आती हैं न इम्पोर्टेंट! (फिर पूछेंगे) कितने की है? (तो कहेंगे) दस लाख की है, पचास लाख की है।

गाड़ी में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर बैठा हो, लोग ऐसे देखते हैं कि भाई सुखी है, लेकिन (गुरुदेव कहते थे) 'वह गाड़ी में तो नहीं बैठा, गाड़ी उसकी छाती पर बैठी है!' क्योंकि इसकी उपाधि जो उसने धारण की है वह सब उसे है! गाड़ी में कहीं थोड़ा सा नुकसान भी न हो इसकी उपाधि उसने धारण कर रखी है। उसे मेनटैन करने की जो उपाधि है वह सब उसे है! अतः वह खुद तो गाड़ी में नहीं बैठा, गाड़ी उसकी छाती पर बैठी है। वह उपाधि जो है! इसलिए।

इसलिए कहते हैं कि 'चैतन्य का विस्मरण ही घोर विपदा है।' इसमें दुःख का परिणमन होने से इसे घोर विपदा गिनते हैं। विस्मरण में क्या लिया? कि संसारी मिथ्यादृष्टि जीव संपूर्णतया - पूरा का पूरा आत्मा को भूलकर प्रवर्तता है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' बनारसीदासजी ने गाया है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' सदा मतलब कब? कि तीनों काल, अभी भी। ऐसा जो खुद का निजपद है उसका विस्मरण करना, इसे भूल जाना, बिना ऐसे भान में और मैं मनुष्य हूँ या किसी न किसी पर्याय को प्राप्त हूँ, ऐसी पर्यायरूप खुद को मानकर - ऐसी सभानता में बड़ी विपदा खड़ी होती है। इसमें चार गति का परिभ्रमण निहित है। इसमें सर्व काल दुःख, दुःख और दुःख ही है। किसी भी काल में दुःख नहीं है, ऐसा नहीं। अतः वही बड़ी विपदा है, जब कि चैतन्य का स्मरण जिन्हें आया वही वास्तव में सच्ची संपदा है।

यह (चैतन्य का) स्मरण का मतलब सिर्फ रट लगाना, सुनकर रट लगाना या माला फेरना, नाम स्मरण जिसे कहते हैं न? ऐसा नहीं है। (परंतु) अंतर सावधानीपूर्वक भीतर में अभेद अनुभव द्वारा (चैतन्य का) स्पर्श करे या इसके भान में रहे (उसे स्मरण कहते हैं)। देखिये! भान एक ऐसी चीज है कि जिसे स्मरण नहीं करना पड़ता। स्मरण इसके आगे कम पड़ता है। मैं



मनुष्य हूँ - इसका स्मरण करना पड़ता है ? मेरा नाम यह है - इसका स्मरण करना पड़ता है? ऐसा-ऐसा मैं हूँ - यह स्मरण करना पड़ता है क्या? काला हूँ, गोरा हूँ, ऊँचा हूँ, नीचा हूँ, ऐसा कुछ भी स्मरण करना पड़ता है क्या ? कुछ नहीं करना पड़ता। इसका भान जो रहता है वह स्मरण से भी अधिक है। वैसे चैतन्य का भान है वही वास्तविक संपदा है। 'स्मरण' यह 'भान' के अर्थ में है। यह भान कभी विस्मृत नहीं होता। भान को स्मृति-विस्मृति की अपेक्षा नहीं होती। अतः ऐसा कहा जाता है कि इसकी विस्मृति नहीं होती है। परंतु वास्तव में तो स्मृति-विस्मृति की अपेक्षा इसमें नहीं है।

वैसे तो स्मृति-विस्मृति है वह मतिज्ञान के भेद हैं। मतिज्ञान के जो पाँच भेद हैं उसमें 'स्मृति' है वह मतिज्ञान का भेद है। इसलिए यह जातिस्मरण को भी मतिज्ञान के भेद में लिया है, श्रुतज्ञान के भेद में नहीं। स्मृति का भेद है न, मतलब वह मतिज्ञान का उघाड़ है। जातिस्मरण है वह मतिज्ञान का उघाड़ है।

यह तो जो 'भान' है इसमें सिर्फ ज्ञान ही नहीं, परंतु भान में तो श्रद्धा भी है, भान में तो ज्ञान भी है और भान में स्वरूपाचरणचारित्र भी है, स्वरूप भान में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एकसाथ होने से, यह धर्मी को जो होता है न स्वरूप का भान! इसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन होने से, वह स्मृति से बलवान पर्याय है, विशेष ताकतवर पर्याय है। ऐसा जो कहा वह भी तीन मुख्य गुण है इसलिए कहा। भगवान को जो अनंत चतुष्टय प्रगट हुए हैं इसमें चारित्र तो साधकदशा का भेद होने से, चारित्र को बदलकर सुख कहा है। भगवान को अनंत ज्ञान है, अनंत दर्शन है, अनंत सुख है - ऐसा लिया है। अनंत चतुष्टय में अनंत चारित्र है ऐसा नहीं कहा जाता, चौथा अनंत वीर्य लिया है। वह भी मुख्य गुण है। वैसे (यह धर्मी को) 'भान' में भी अनंत पुरुषार्थ लिया है। आत्मा के स्वरूप-भान में अनंत पुरुषार्थ है।

वैसे यह बात साथ में है। (इसलिए) चार गुण लेने चाहिए।

जिसको यहाँ स्मरण कहा है कि, 'चैतन्य का स्मरण (संवेदन) ही वास्तव में सच्ची संपदा है।' तो इसमें चैतन्य की संपत्ति में सम्यग्दर्शन की पर्याय है, सम्यक्ज्ञान की पर्याय है, सम्यक्चारित्र की पर्याय है यानि कि सम्यक्सुख की पर्याय है और सम्यक्पुरुषार्थ की पर्याय है - चारों हैं, इसमें चतुष्टय है इसलिए वह सच्ची संपदा है। जीव की जो गुण संपत्ति है वह गुण निधानमें से उत्पन्न हुआ परिणमन है। जीव का ऐसा परिणमन तो गुण निधानमें से उत्पन्न हुआ गुणवान परिणमन है। निर्दोष व पवित्र परिणमन है। वह जीव की सच्ची संपत्ति है, जिसे संपदा कहते हैं। फिर भले ही वह एकाकी हो, निर्धन हो, बाहर में कोई उसे पहचानता न हो, कोई बुलाता न हो, अरे..! कोई तिरस्कारवृत्ति से उपेक्षा करता हो, फिर भी वह सच्ची संपदा का धारक है। श्रीमद्जी एक जगह लिखते हैं न! जिसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु लोकदृष्टि में है, ऐसा कहकर शुरूआत की है न...! कुछएक वचनमृत तो उन्होंने बहुत अच्छे लिखे हैं। लोकसंज्ञा ! लोकदृष्टि नहीं परंतु लोकसंज्ञा है। लिखावट में गंभीरता बहुत है !!

लोकसंज्ञा माने क्या? कि, दूसरे लोगों की नजर में मेरा अमुक दिखाव रहे। मेरी अमुक प्रकार से गिनती (स्थान) हो, मैं जैसा अपने आपको दिखाना चाहता हूँ ऐसा स्थान दूसरे की नजर में बना रहे तो अच्छा! इसे लोकसंज्ञा कहते हैं। फिर इसमें पैसेवाला पैसे की गिनती करता है, यानि मान की गिनती करता है, शिष्यों का गुरु ऐसी गिनती करता है कि मैं गुरुपद में रहूँ तो अच्छा! इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से लोगों के बीच अपना स्थान समझा है। ऐसी दृष्टि रहा करे, यानि कि वह स्थान बनाये रखने का सर्व प्रकार से जाने-अनजाने में प्रयत्न हुए बिना रहता नहीं। ऐसी जो परिणमन की प्रकृति उसे

ज्ञानी लोकसंज्ञा कहते हैं। यह लोकसंज्ञा का अर्थ है, भाई! ठीक!

प्रश्न :- मन ही मन में ऐसे परिणाम होते हैं?

समाधान :- मन ही मन उसके ऐसे ही परिणाम रहते हैं कि, मुझे लोग इस नजर से देखें तो अच्छा, मेरी कहीं बुराई न हो तो ठीक, मुझे कोई हीनरूप से न देखे तो ठीक। मुझे धर्मी के रूप में देखे तो अच्छा ! मुमुक्षु के रूप में ही लो (न)! हम हमारी बात ही क्यों न ले? पैसेवाले की (बात) एक तरफ (रखो) ! मुझे मुमुक्षु समझे तो अच्छा, धर्मी समझे तो अच्छा, ज्ञानी समझे तो अच्छा! कहते हैं कि भाई बहुत बड़ी क्षति है। यह लोकसंज्ञा उसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु हो जाता है यानि कि ध्येय बन जाता है। जो ध्येय के स्थान में हो उसे लक्ष्यबिंदु कहते हैं।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि अगर तुझे मुमुक्षु की गिनती में आना हो, अगर तुझे मुमुक्षु की पंक्ति में बैठना हो, तो ज्ञानी का यह आदेश है कि तू अपनी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु परिपूर्ण निर्दोष होने का-मोक्ष का ध्येय निश्चित कर लेना। कौन-सा ध्येय? पूर्णता का लक्ष्य! परिपूर्ण निर्दोष होना है ऐसा जो ध्येय है वह जिंदगी का लक्ष्यबिंदु होना चाहिए, इसके बजाय लोकसंज्ञा जिसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है। नास्तिमें से अस्ति को समझाया कि यह नहीं होना चाहिए तो क्या होना चाहिए? वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता से भरी है, चाहे जैसी सत्ता से सज्जित हो, या चाहे कितना बड़ा कुटुंब-परिवार इत्यादि हो, आदि की संख्या बड़ी हो, चाहे कैसा भी योग हो फिर भी एकांत दुःख का ही हेतु है। इसमें दुःख मिटने का और सुख मिलने का कोई अवसर या प्रकार नहीं है।

आत्मशांति मतलब आत्मिक सुख, आत्मिक संपत्ति जिसको गुरुदेवश्री यहाँ पर संपदा कहते हैं। हर एक की भाषा अपनी मौलिकतापूर्ण आती है। विषय जो है वह तो एक ही है। आत्मशांति जिस जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है वह

जिंदगी चाहे एकाकी हो (यानि कि) अकेला हो, किसी का संग उसे न हो, कोई उसे साथ न देता हो, ऐसा कहते हैं। वह एकाकी हो, निर्धन हो, निर्वस्त्र हो, नग्न दिगंबर होते हैं - जंगल में मुनिराज होते हैं न ! फिर भी वह परम समाधि का स्थान है। ऐसा आत्मशांति का जिसने ध्येय बनाया है वह आत्मा की परम समाधि अवस्था में (रहता है)। जहाँ साम्य है वहाँ समाधि है और जहाँ समाधि है वहाँ साम्य है। 'साम्य है वह जीव के मोह-क्षोभ विहीन परिणाम है।' प्रवचनसार (७वीं गाथा में) साम्य की (ऐसी) परिभाषा की है। जैनदर्शन का यह साम्यवाद है!! कि, जीव के मोह-क्षोभ विहीन, मोह विहीन परिणाम और चंचलता, अस्थिरता, क्षोभ विहीन-अविक्षिप्त ऐसे स्थिर उपयोग के परिणाम, आत्म-स्थिरता के परिणाम वास्तव में साम्य के परिणाम हैं, वे परम समाधि के परिणाम हैं। वह जीव की खरी संपत्ति है जिसमें आत्मशांति समाहित है। जगत की संपत्ति की उसको कोई गरज नहीं है, उसको जगत की संपत्ति की कोई गरज नहीं है।

श्रीमद्जी ने गाया है, 'वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो' मुनि को ऐसा होता है, इतना ही प्रतिपादन नहीं है। मैं साधक हूँ और उस स्थिति की मैं भावना भाता हूँ, 'अपूर्व अवसर' गाया है न ! 'अपूर्व अवसर' में ऐसा गाया है कि ऐसे जो मुनिराज हैं, जंगल में ध्यानस्थ अवस्था में बिराजमान हैं, ऐसे में चक्रवर्ती सेना लेकर निकले और दिखने में आ जाये कि अरे...! वह पेड़ के नीचे मुनिराज ध्यान में बिराजमान हैं! तो हाथी की सवारी से नीचे उतरकर साष्टांग नमस्कार करें!! फिर भी वे सामने तक नहीं देखते!! लोग उनके नमस्कार को बड़ा सन्मान गिनते हैं। वीतरागी मुनि के लिए (वह) ज्ञान का ज्ञेय है। उनको तो कोई पत्थर मारनेवाला - उपसर्गकर्ता हो चाहे कोई चक्रवर्ती वंदनकर्ता हो दोनों एक-से ज्ञान के ज्ञेय हैं। उनको यह अच्छा है और मेरा है, मुझे

माननेवाला मेरा है, ऐसी संकुचितता वीतराग भाव में नहीं होती। वहाँ ऐसी भावना भायी है। श्रीमद्जी ने मुनि का वर्णन किया है वह तो एक दृष्टिकोण है जो गौण है, मुख्य दृष्टिकोण तो उस काव्य का यह है कि 'ऐसा अपूर्व अवसर मेरा कब आएगा?' यह इसका मुख्य दृष्टिकोण है।

इसलिए ऐसा कहा है। यह उन्होंने लिया है - ३४ वें वर्ष की यह बात है। देखिये! ३४ वें वर्ष में उनका देहांत है और आखिर में (पत्रांक - ९४९में) यह बात लिखते गये हैं। एकदम सूत्र जैसा वाक्य है! जगत के संयोगों के पीछे दौड़ रहे प्राणियों को लगाम दे (रोक ले) ऐसा यह वाक्य है कि भाई! चाहे जितनी श्रीमंतता, सत्ता और कुटुंब-परिवार तुझे मिल जाए ! (परंतु) तेरी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु अगर उल्टा है तो वह तुझे दुःख का कारण होगा। वर्तमान दुःख का कारण (है और) भविष्य में इसकी परंपरा भी अनंत दुःखमय है। वह वास्तविक संपत्ति और संपदा नहीं है। उस भ्रामक अनुकूलता के पीछे दौड़ने जैसा नहीं है।

प्रश्न :- जाने-अनजाने में लोकसंज्ञा रह जाती है ऐसा कहा, तो क्या अनजाने में भी लोकसंज्ञा रह जाती है?

समाधान :- विचार कर लेना कि हमने ऐसा स्पष्ट विचार तो नहीं किया कि, मुझे कोई इस नजर से देखे तो अच्छा! कोई ऐसी नजर से देखे तो अच्छा, ऐसे देखे तो अच्छा, परंतु मुमुक्षु कहलाते हो फिर भी जब तक आत्मशांति का ध्येय, परिपूर्णता का ध्येय जीव निश्चित नहीं करता है, क्योंकि दूसरे का तो इसमें पता (लगना) मुश्किल है, यह देख लेना चाहिए कि मुझे ऐसा भाव रहता है कि नहीं? ऐसा मुझे अंदर में रहता है कि नहीं? कि लोग मुझे इस नजर से देखे तो अच्छा ! दूसरों की इतनी (दिक्कत नहीं है) - अनजान लोगों से मतलब नहीं है, (परंतु) जो लोग मुझे जानते हैं, वे मुझे ऐसा जानते

हैं, ऐसा अच्छा मुझे जानते हैं, ठीक जानते हैं, इसमें फेरफार न हो तो अच्छा - इतना तो रहता है कि नहीं? जाने-अनजाने में यह बात भीतर में है कि नहीं? इसको यहाँ लोकसंज्ञा कहते हैं।

सबको अच्छा लगे इसके लिए शक्य हो उतना प्रयत्न करता है परंतु इसमें इसकी मर्यादा है। इसमें वह पुरा सफल नहीं हो सकता (क्योंकि) किसीको बुरा लगे ऐसी नौबत भी आती है, परंतु फिर भी सामान्यतया जीव के अभिप्राय की यह स्थिति है। उसके सोचने पर या बिना सोचे भी अभिप्राय की ऐसी स्थिति है कि जो मुझे जानते हैं, उनमें मेरा जो स्थान है वह बना रहे तो अच्छा! उस स्थान से मैं न हो जाऊँ तो अच्छा! लोगों की नजर में न हो जाऊँ तो अच्छा! उस स्थान में मेरी बढौती हो और लोग मुझे ज्यादा से ज्यादा अच्छा गिनते रहें, ऐसी इच्छा तो है ही। जीव की ऐसी स्थिति है, जिसे ज्ञानियों ने 'लोकसंज्ञा' कही है।

इस लोकसंज्ञा में अनंतानुबंधी के चारों कषाय निहित हैं, जो जीव को दुःख का, महादुःख का, अनंत दुःख का, अनंत परिभ्रमण का कारण है। यह बड़ी विपत्ति है। भीतर में स्वरूप का भान रहना (कि) जिसमें लोकसंज्ञा का अभाव है, इसके लिए यह 'स्मरण' शब्द इस्तेमाल किया है। अंतर सावधानी जो है वह जीव की वास्तव में सच्ची संपत्ति है और वह लोकाग्र तक पहुँचने का मार्ग है। वह सिद्धपद में पहुँचने का मार्ग है। यहाँ तक रखते हैं।

\*\*\*

**अनुभव संजीवनीमें से चयन किये गये  
'ज्ञानी की वाणी' सम्बन्धित वचनमृत**

सत्पुरुषके वचनमें आत्महित होनेका पूरा निमित्तत्व होता है। लक्ष्य-स्वरूपका बोध होनेमें वह अचूक (अवश्य) निमित्तभूत होता है। अगर जीवकी तथारूप पात्रता अर्थात् योग्यता हो तो अवश्य कार्यसिद्धि होती है। अहो ! निज पूर्ण वीतराग स्वभावके प्रति जोशपूर्वक प्रगटित ऐसी वाणी !! ऐसी वाणी अमोघ - रामबाण ही होवे न ! वह निष्फल कैसे जाय ? उसकी सफलताके साथ कुदरत बंधी हुई है, अतः यह वाणी भी (व्यवहारसे) पूज्य है। (१६२)

\*\*\*

निर्विकल्प सूक्ष्म आत्मस्वरूप और उसका निर्विकल्प अनुभव अवक्तव्य होनेसे, एवं सिर्फ अनुभवगम्य होनेसे, उसका उपदेश महान अनुभवी गुरु-ज्ञानी द्वारा ही मिल सकता है। उनकी वाणीमें भी संकेतरूपसे सूक्ष्मभाव प्रकाशित होते हैं। दूसरेकी वाणीमें अनुभव रहितपनेके कारण वैसी सूक्ष्मताका प्रकाशित होना संभवित नहीं है, क्योंकि वे उससे अनजान हैं। उसका विचार - विकल्पात्मकज्ञान भी स्थूल है, स्वभावकी सूक्ष्मतासे दूर है ऐसा समझने योग्य है। (२८०)

\*\*\*

'द्रव्य स्वभाव - निजस्वरूप' समस्त निर्ग्रथ प्रवचनका रहस्य है, धर्मध्यानसे लेकर शुक्लध्यान पर्यंत अनन्य कारण है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे वह स्व-रूप प्रतिभासित होता है। समस्त प्रकारकी विविक्षाओंमें - यह परमतत्त्वकी मुख्यता अपेक्षित है। और तो ही विभिन्न विविक्षाएं यथार्थ हैं। ज्ञानीके सर्वकथनका यह (आंतर)ध्वनि (Undertone) होता है। विद्वतामें जैसे ही इस मूल बातका वजन - अपेक्षाको लेकर कम होता है कि विपर्यास उत्पन्न होता है। (३०३)

\*\*\*

सत्पुरुषकी वाणीमें रही विलक्षणताएँ :

(१) आशयभेद :- यानी कि उनकी वाणी मूल आत्मस्वरूपको केन्द्रस्थानमें रखती है, अथवा सर्व कथन-विस्तारका केन्द्र बिंदु, शुद्धात्मा और उसका आश्रय होना, वह है।

(२) पूर्वापर अविरोधता :- पदार्थ दर्शन एवं प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे, विरुद्ध धर्मोंका ज्ञान भी अविरोधरूपसे होता है, इसके अतिरिक्त मुख्य-गौणकी परिणाम पद्धति, प्रयोजन अनुसार सहज वर्तती होनेसे संतुलित परिणामनदशाका द्योतक वचनयोग होता है।

(३) आत्मार्थ उपदेशक :- सर्व भूमिकाके शिष्यका आत्मार्थ सधे अथवा कहीं भी आत्मार्थकी विरुद्धता नहीं हो ऐसा ही उपदेश (होता है)।

(४) अपूर्व वाणी :- अपूर्व स्वभावको अपूर्वभावसे व्यक्त करती हुई वाणी सुनते हुए सुननेवालेको भी अपूर्वता ही भासित होती है (योग्यता हो तो)।

(५) अनुभवकी अभिव्यक्ति :- अनुभव सहित निर्मल चैतन्यदशा एवं अलौकिक गुणोंके अतिशयसे प्रभावित वचनयोग होनेसे, आत्माकी भानदशा - जागृत चैतन्यकी दशापूर्वकका वचन योग, श्रोताको भी सतत जागृत करनेवाला, पुरुषार्थको जगानेवाला होता है। तथापि भावनासे भीगी हुई, वास्तविकताकी प्रकाशक होनेसे शुष्कता, कल्पना एवं एकांतिकपनेसे रहित होती है। उत्कृष्ट मुमुक्षु एवं ज्ञानीको वह पहचाननेमें आती है। दूसरेको भ्रांति होनेकी संभावना है। (६४०)

\*\*\*

चित्तमें परमार्थ सम्बन्धी रस उत्पन्न हो, अथवा परमार्थ-भावका विशेष आविर्भाव वर्तता हो, उस वक्त ही इसके सम्बन्धी (कुछ) कहना या (लिखना) उसे यथार्थ मान सकते हैं अथवा स्व-पर हितकारी होता है अन्यथा परमार्थ सम्बन्धी कहना या लिखना स्व-परको उपकारी नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रवृत्ति आत्मबुद्धिपूर्वक नहीं हुई है।

अतः परमार्थका प्रकरण लिखनेवालेको अथवा कहनेवालेको उस वक्त विषयके अनुरूप वीर्यकी प्रवृत्ति अंतरंगमें होनी चाहिये तो ही उसके अनुरूप वचनयोग प्रगट होगा।

वचन / वाणीकी यथार्थताका नाप अथवा प्रमाण इस प्रकार होना चाहिये। ज्ञानी / धर्मात्माकी वाणी हमेशा पुरुषार्थ प्रेरक होती है, अथवा आत्महित प्रेरक होती है; और उनके वचनयोगमें उक्त प्रकारसे परमार्थरसकी अभिव्यक्ति देखनेको मिलती है। जो कि ज्ञानीपुरुषकी पहचान होनेका कारण भी होती है। अतः ज्ञानी अस्थिरतावाले उदययोगमें 'कल्पित भावसे' परमार्थको प्रकाशित नहीं करते। वह योग्य ही है। (६६६)

\*\*\*

### अनुभव संजीवनीमें से चयन किये गये 'ज्ञानदशा' सम्बन्धित वचनामृत

मिथ्यात्वके सद्भावमें जीवको अपनेमें अपनत्वका अनुभव करनेकी योग्यताका अभाव होता है। जब कि सम्यक्त्वके सद्भावमें, परमें अपनत्वका अनुभव करनेकी योग्यताका नाश हो चुका है, इसलिए शरीरादि संयोगोंमें पूर्वकर्म भोगते हुए भी अपनत्व नहीं होता।

निजसिद्धपदके प्रत्यक्ष अनुभवरससे जिनका परिणामन भरितावस्थ है, उन्हें जगतके रम्य (!) पदार्थ मोहक नहीं लगते। परन्तु किसी भी पदार्थ पर उपयोग खींचता है तब दुःख-दाह होता है। वरना रम्य पदार्थोंमें मोहभाव हुए बिना नहीं रहता। सारांश (तात्पर्य) यह है कि ज्ञानीके दर्शनमें, स्वभावदर्शन करने योग्य है। (९७५)

\*\*\*

ज्ञानदशामें अपने बेहद सामर्थ्यकी प्रतीत रहती होनेसे, दीनताका नाश हो जाता है, इसलिए सन्मार्गके प्रारम्भसे ही अयाचकपना रहता है। इसके अलावा परिपूर्ण स्वरूपके अवलंबनसे उत्पन्न वैराग्य भी (ज्ञानीको) याचनावृत्तिमें आने नहीं देता। ज्ञानी अल्प राग हो, तब तक प्रारब्धकर्मकी निर्जरा हेतु प्रवृत्तिमें होते हैं, ममत्वके कारण नहीं ऐसा समझने योग्य है। (९७७)

सूर्यको अंधकारने घेर लिया हो - ऐसा कभी किसीने देखा है? या सुना है? वैसा चैतन्य सूर्य जिनको प्रगट है, ऐसे आत्मज्ञानीको कर्मका उदय घेर ले, ऐसा कभी नहीं बन सकता। (भव्यामृत श. ९९)

ध्रुवतत्वमें उपाधिकारक संयोगोंका और तद् निमित्तक उपाधिभावका प्रवेश ही नहीं है, ऐसा अनुभव स्वरूपज्ञानीको रहता है। पुनः निज ध्रुव सुखधामका अनुभव स्वयं सुखमय परिणमन है। कर्म इससे अति दूर है। अनुभवीको शंकाकी गुंजाइश नहीं है। (९९५)

\*\*\*

अन्य जीवको उपकार हो वैसी, धर्म-प्रभावना योग्य, बाह्य प्रवृत्ति भी प्रारब्धयोग अनुसार शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक होनी चाहिए। निष्कारण करुणासे महापुरुषोंने परमपदका उपदेश दिया है। यह उपदेशका कार्य महान् होने पर भी अंतर आराधनामें अप्रमत्त भावसे प्रवर्तन करते-करते, ये बाह्य कारुण्यवृत्ति भी जिनकी उपशांत हुई है, वैसे महत् पुरुषकी साधनाको वंदन हो! अंतर आराधनामें अप्रमत्तभावसे रमणता करनेवालेके बाह्य योगका सहज स्वभाव सर्व जीवके प्रति दयाका रहता है। और उनका आत्मस्वभाव तो सर्व जीवको परमपदके प्रति आकर्षित करनेवाला हो, इसमें कौनसा आश्चर्य! उस प्रगट आत्मस्वभावके द्वारा अन्य तथारूप योग्यतावान जीवको आत्मस्वभाव प्रगट होता है अथवा स्वरूप स्थिरता प्राप्त होकर, अंतमें परमपदकी प्राप्ति होती है। उसका मूल्यांकन किससे हो? (१११५)

\*\*\*

अनुभव संजीवनीमें से चयन किये गये  
'ज्ञानी की पहचान' सम्बन्धित वचनामृत

प्रश्न :- सत्पुरुषकी पहचान होनेके लिए कैसी योग्यता चाहिए?

उत्तर :- ज्यों-ज्यों असत्संगका परिचय करनेकी वृत्ति कम हो अथवा असत्संगसे चित्त पीछे हटकर उसके प्रति सहज उदासीनता आये और स्वविचारदशा - आत्मजागृति - उत्पन्न हो, त्यों-त्यों उस आत्महितकी अत्यंत जागृतिके कारण उदयके सर्व प्रसंगोंमें नीरस परिणाम रहा करते हैं, जिससे दर्शनमोहका अनुभाग कम होता है, और इससे ज्ञानीपुरुषकी अंतरदृष्टि और सहज स्वरूपमय दशा समझमें आने पर, ज्ञानीपुरुषका अपूर्व माहात्म्य भासित होकर, उनके प्रति चित्त उल्लसित होता है - परम प्रेम आता है, पराभक्ति प्रगट होती है, तब उनके एक वचनसे भी अपूर्व फल प्राप्त होता है, ऐसा जानकर उस वचनके प्रति, उस वचनके आशयके प्रति अत्यंत प्रीति-भक्ति उत्पत्त होती है, वह फिर दुर्लभ होते हुए भी सम्यक्त्व दुर्लभ नहीं है। जबतक सत्पुरुषमें परमेश्वरबद्धि नहीं आती है तबतक उनके बोधका फल आना संभवित नहीं है। बोधका परिणमन होनेकी खास पूर्व भूमिका ऐसी है कि बोधिदातारके प्रति अपूर्व माहात्म्यबुद्धि प्रगट होती है। (११४२)

\*\*\*

प्रश्न :- सत्पुरुषकी पहचान करनेवाले जीवके पूर्वभूमिकामें कैसे परिणाम होते हैं?

समाधान :- जिसको जन्म-मरणसे छूटनेका लक्ष हुआ हो और इसके लिए जो अनुभवीपुरुषको खोजता हो, उस जीवकी सर्वापिणबुद्धिसे सत्संगकी उपासना करनेकी पूर्व तैयारीरूप पात्रता होनेसे, वह जीव निज प्रयोजनकी मुख्यतापूर्वक तीक्ष्णदृष्टि और अपूर्व जिज्ञासासे सत्पुरुषको पहचान लेता है। (१२६७)

\*\*\*

प्रश्न :- सत्पुरुषकी भक्तिमें राग हो या भक्ति प्रेमरूप हो, उन दोनोंमें क्या अंतर है ?

समाधान :- रागका आधार पुद्गल है अथवा लोकसंज्ञासे लौकिक कारण वशात् या ओघसंज्ञासे उत्पन्न भक्ति रागरूप होती है, परन्तु आत्मगुणको लक्षमें रखते हुए उत्पन्न बहुमान प्रेमरूप होता है, सत्पुरुषकी पहचान होने पर भक्ति - प्रेमरूप होती है और वह ज्ञान प्राप्तिका मूल कारण है। (१३५०)

\*\*\*

सत्पुरुषकी पहचान हुई है उसका लक्षण यह है कि उनके प्रति अपूर्व स्नेह आता है। उनके सानिध्यकी भावना ऐसी रहती है कि उनके वियोगमें एक क्षण भी मृत्यु समान वेदनारूप लगती है। अहो ! सत्-योगका मूल्यांकन !! अहो, अहो अपूर्व गंभीर प्रघटना। सत्संग मुमुक्षुका प्राणवायु बन जाना चाहिए। (१३५४)

\*\*\*

जिज्ञासा :- ज्ञानीपुरुषकी परीक्षा, जब योग्यतावान जीव करता है, तब कौन-कौनसे खास मुद्दोंसे उस जीवको प्रतीति आती है ?

समाधान :- (१) ज्ञानीकी वाणीका आशय, परमार्थरूप आत्मकल्याण केन्द्रस्थानमें रहता है, उस पर उस जीवका लक्ष जाता है। इसके उपरांत,

(२) सत्संगमें आनेवाले पात्र जीवको अपनी आत्मा पर जो असर आती है, उससे उसको प्रतीति आती है, भक्ति आती है।

(३) ज्ञानीकी वाणीमें ही अंतर्मुख होनेकी विधि आती है, उसमें उनका अनुभव व्यक्त होता है। विधि प्रयोगात्मक होनेसे, प्रयोगका विषय अन्यत्र व्यक्त नहीं होता; नहीं हो सकता - ऐसा समझमें आता है।

(४) ज्ञानी संप्रदायसे अलग पड़ते हैं, क्योंकि संप्रदायमें सर्वत्र त्यागी लोग चारित्रमोह मंद होवे ऐसा उपदेश देते हैं, दर्शनमोहका नाश होनेके विषयसे वे अनजान होनेसे, सिर्फ कषायकी मंदता द्वारा धर्म प्राप्ति मान लेते हैं - यह गृहीत मिथ्यात्व है। जब कि ज्ञानी दर्शनमोहका अभाव हो वैसा उपदेश देते हैं। अर्थात् निश्चयकी मुख्यतापूर्वक व्यवहारको गौण करते हैं। (१५८४)

\*\*\*

जिज्ञासा :- ज्ञानीकी अंतर परिणतिकी, मुमुक्षुजीवको पहचान अंतर्मुखताके प्रयासके वक्त होती है या बहिर्मुख परिणामके वक्त ?

समाधान :- ज्ञानीकी वास्तविक पहचान तो तथारूप सत्संग प्राप्त होने पर, दृढ़ मुमुक्षुता आने पर, सत्संग योगमें प्राप्त उपदेश अवधारण करने पर, तथा अंतरात्मवृत्ति उत्पन्न होने पर होती है। खुदको लागू होनेवाले प्रयोजनभूत उपदेशका अमलीकरण करनेके लिए संवेग प्राप्त जीव, अंतर्मुखताके मार्गको परम उत्साहसे चाहता है, तब उसे विद्यमान ज्ञानीपुरुषकी अंतर परिणतिके दर्शन होते हैं। (और) तब पहचान होती है। (१५९६)

\*\*\*

**पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा**  
**मंगल वाणी-सी.डी. ७-D**

मुमुक्षु :- .. परन्तु जितने व्यवहार के निमित्त के कथन है वह अपने गुण में कार्यकारी नहीं होते। लेकिन परमार्थ को समझाने में काम आये। और व्यवहार नहीं आता। लेकिन उसके द्वारा आत्मा को

समाधान :- व्यवहार के जो कथन शांति तो अन्दर खुद स्वरूप को पहचाने, है। व्यवहार के जितने कथन हैं ऐसे कथन जितने व्यवहार के कथन (आते हैं, उतने) वह सब समझाने के लिये है। और भेद के लिये है। अन्दर शांति तो सब व्यवहारसे रखे और यदि वह स्वयं दृष्टि के जोरसे मात्र व्यवहारमें अटक जानेसे शांति नहीं उससे कोई शांति नहीं मिलती। व्यवहार के

भेदभाव है। वह जानने के लिये है। जानने के लिये है। उसका ज्ञान करने योग्य है कि व्यवहार है, पर्याय है और अन्दर द्रव्य शुद्धात्मा है उसपर दृष्टि करके आगे बढ़े तो शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। इसप्रकार सब समझने के लिये है। लेकिन व्यवहार, जो कुछ भेदभाव है अन्दर स्वरूप में लक्षणभेदसे भेद है, लेकिन वास्तविक भेद नहीं है इसलिये शांति तो अन्दर द्रव्य पर दृष्टि रखकर अन्दर साधना करे तो ही शांति हो सकती है। ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- अधिक भाग तो व्यवहार ..

समाधान :- लोग भी व्यवहार में ही पड़े हैं, जीव अनादि कालसे, इसलिये उसे व्यवहारसे कहने में आये, भेदसे कहने में आये तो समझते हैं। आत्मा अभेद है, आत्मा अनन्त गुणसे भरा है, शुद्धात्मा है ऐसे कहते रहे तो उसे दिखाई नहीं देता और समझ में नहीं आता। इसलिये व्यवहार के जो कथन हैं वह उसे समझ में आते हैं। इसलिये व्यवहार के कथन अधिक है, समझने के लिये हैं। वह अधिक आते हैं।

परिणाम को पहचाने कि ऐसे सब परिणाम होते हैं, यह निमित्त है, यह सब छोड़ने योग्य है, भेदज्ञान करने जैसा है, ऐसा सब कहने में आये तो वह समझता है। अन्दर तू आत्मा है, इतना मात्र कहे तो वह कुछ समझता नहीं।

शास्त्र में आता है न? कि तूम आत्मा हो।? ऐसा शास्त्र में आता है। तेरा अविनाशी कल्याण होए, तुम आत्मा हो, ऐसा समझे नहीं इसलिये उसे भेद करके कहा जाता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र जिसमें हो उसे प्राप्त हो वह आत्मा। इसप्रकार भेद करके कहना पड़ता है। इसलिये भेद के बिना वह समझता नहीं। इसलिये व्यवहार के कथन ज्यादा आते हैं, निश्चय के कथन कम आते हैं। लेकिन शांति तो उसे परमार्थसे ही होती है। शांति कोई भेद में रुकनेसे शांति नहीं होती। भेद तो समझने हेतु है।



में जो परमार्थ है वह समझाने में काम शान्ति होती है, ऐसा प्रगट नय विभाग है। है वह तो समझाने के लिये है। अन्दर की द्रव्य पर दृष्टि जाये तो अंतरसे शांति आती तो शास्त्रों में बहुत आते हैं। शास्त्रों में अध्यात्म के कथन नहीं आते। लेकिन पड़ता है साधकदशा में वह सब समझाने लक्ष्य उठाकर और स्वयं द्रव्य पर दृष्टि आगे बढ़े तो शांति प्राप्त हो ऐसा है। शांति मिलती। बाह्य निमित्त, निमित्त की बातें कथनोंसे शांति (नहीं मिलती)। वह तो



मुमुक्षु :- व्यवहार का एक ही प्रयोजन है कि परमार्थ पर्यंत ले जाना ? इसके सिवा दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ?  
 समाधान :- परमार्थ की ओर ले जाना, बीच में व्यवहार आता है वह जानने के लिये है। जाने तो आगे बढ़े, जाने नहीं आगे कैसे बढ़े ? यथार्थ ज्ञान करने के लिये है, जानने के लिये है कि यह पर्याय है, निमित्त है, भेद है, बीच में साधकदशा आती है, सब जानने के लिये है, यथार्थ ज्ञान करने के लिये है। और ज्ञान यथार्थ करे तो मैं शुद्धात्मा हूँ, द्रव्य पर दृष्टि करे, पुरुषार्थ करे, साधकदशा बीच में आती है, वह सब ज्ञान करने के लिये है। समझे तो आगे बढ़े न। पुरुषार्थ का प्रारंभ हो, यह सब व्यवहारसे समझने के लिये है, जानने के लिये है। पुरुषार्थ अन्दर हो वह भी व्यवहार है। भगवान् पूर्ण हो गये उनको पुरुषार्थ का व्यवहार भी लागू नहीं पड़ता। पुरुषार्थ होता है वह भी व्यवहार है। साधकदशा है वह भी व्यवहार है। समझने के लिये है, पुरुषार्थ शुरू करने के लिये है, ज्ञान करने के लिये है। साधकदशा दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय की आराधना करे वह भी व्यवहार है। आराधना करने के लिये है। मात्र जानने के लिये यानी समझने के लिये नहीं है। यथार्थ ज्ञान करने के लिये है, पुरुषार्थ शुरू करने के लिये है। पुरुषार्थ करे वह भी व्यवहार है। सब व्यवहार है। ज्ञान करे उसमेंसे यह समझना है कि व्यवहार है, नहीं है ऐसा नहीं है। एक शुद्धात्मा है लेकिन उसके साथ पर्याय है, अशुद्ध पर्याय होती है और शुद्ध पर्याय होती है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (दिसम्बर-२०२०) का शुल्क स्व. श्री शीवलालजी मांगीलालजी सिंघवी, दबोक (उदयपुर), ह. श्री सुमतिलाल शिवलाल शाह परिवार, यु.एस.ए. के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणमन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

‘स्वभाव’ सावधान स्वरूप है। पर्याय में सावधानी होनेपर स्वभाव पकड़ने में नहीं आता। ५९१.

\*\*\*

‘मैं त्रिकाली अपरिणामी हूँ’, परिणाम मात्र गौण है, वर्तमान में ही ऐसा निश्चय होना चाहिए। ध्रुवस्वभाव सदा प्रसिद्ध है; उत्पाद-व्यय के काल में जुदा प्रकट है। (स्वभाव की) दृष्टि प्रतिसमय पर्याय को गौण करती है। ५९४.

\*\*\*

त्रिकालीमें विकार-अविकार कुछ नहीं है। (वह तो जैसा है वैसा है।) ६०६.

\*\*\*

‘वर्तमान में ही अक्रिय-अपरिणामी हूँ,’ अर्थात् कोई क्रिया करने का अभिप्राय नहीं है। कुछ करूँ...करूँ में, स्वयं परिणमन करते परिणाम को करने का ही अभिप्राय रहता है। (जो मिथ्या है।) ६०८.

\*\*\*

एक ओर त्रिकाली का पलड़ा और दूसरी ओर क्षणिक का पलड़ा; - जैसे एक ओर माल, दूसरी ओर बारदान; महत्ता मालकी है, बारदान की नहीं। ६१७.

\*\*\*

‘मैं परिणाम से शून्य हूँ’ - ऐसा (रुचिपूर्वक) ज़ोर आना चाहिए। ६२५.

\*\*\*

‘मेरी’ भूमि वर्तमान में इतनी निष्कम्प और नक्कर (टोस) है कि जिससे ‘मैं’ वर्तमान में ही निर्भय हूँ, निरावलंबी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखस्वरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाल एकरूप हूँ, अचल हूँ। ६२७.

\*\*\*

एक पलड़े में आत्मा, और दूसरे पलड़े में तीन काल-तीन लोक; फिर भी आत्मावाला पलड़ा (भार से) बैठ जाता है, और दूसरा पलड़ा उलट जाता है। ६२९.

\*\*\*

‘मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ,’ चौदहवाँ गुणस्थान होगा और बाद में सिद्धालय में जाना होगा, क्षेत्रांतर वगैरह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा। पर्याय का कार्य पर्याय में होता है, ‘मेरे’ में नहीं। ‘मैं’ तो अभी ही सिद्धालय में बैठा हूँ ! कभी कहीं आया भी नहीं, गया भी नहीं। ६३७.

\*\*\*

२३९

बंबई, चैत्र वदी ७, गुरु, १९४७  
‘आप्युं सौने ते अक्षरधाम रे!’

कल एक कृपापत्र मिला था। यहाँ परमानन्द है।  
यद्यपि उपाधिसंयुक्त बहुतसा काल जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है और योग्य है; इसलिये जैसे चल रहा है वैसे चाहे उपाधि हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक, जो हो वह समान ही है।

ज्ञानवार्ता सम्बन्धी अनेक मंत्र आपको बतानेकी इच्छा होती है; तथापि विरहकाल प्रत्यक्ष है, इसलिये निरुपायता है। मंत्र अर्थात् गुप्तभेद। ऐसा तो समझमें आता है कि भेदका भेद दूर होनेपर वास्तविक तत्त्व समझमें आता है। परम अभेद ऐसा ‘सत्’ सर्वत्र है।

वि. रायचंद

\*\*\*

२४०

बंबई, चैत्र वदी ९, रवि, १९४७

कल पत्र और प० पूज्य श्री सोभागभाईका पत्र साथमें मिला।  
आप उन्हें विनयपूर्ण पत्र सहर्ष लिखिये। साथ ही विलंब होनेका कारण बताइये। साथ ही लिखिये कि रायचंदने इस विषयमें बहुत प्रसन्नता प्रदर्शित की है।

अभी मुझे मुमुक्षुओंका प्रतिबन्ध भी नहीं चाहिये था, क्योंकि अभी आपको पोषण देनेकी मेरी अशक्यता रहती है। उदयकाल ऐसा ही है। इसलिये सोभागभाई जैसे सत्पुरुषके साथका पत्रव्यवहार आपको पोषणरूप होगा। यह मुझे बड़े संतोषका मार्ग मिला है। उन्हें पत्र लिखें। ज्ञानकथा लिखे, तो मैं विशेष प्रसन्न हूँ।

\*\*\*

२४१

बंबई, चैत्र वदी १४, गुरु, १९४७

जिसे लगी है, उसीको लगी है और उसीने जानी है; वही ‘पी पी’ पुकारता है। यह ब्राह्मी वेदना कैसे कही जाय? कि जहाँ वाणीका प्रवेश नहीं है। अधिक क्या कहना? जिसे लगी है उसीको लगी है। उसीके चरणसंगसे लगती है; और जब लगती है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा सुगम मोक्षमार्ग है ही नहीं। तथापि कोई प्रयत्न नहीं करता। मोह बलवान है!

\*\*\*

